श्रीमद्भागवत रसिक कुटुंब

UG-11.23 - पंचम सोपान (अर्थ)

बादरायणिरुवाच

स एवमाशं(म्)सित उद्धवेन

भागवतमुख्येन दाशार्हमुख्यः ।

सभाजयन् भृत्यवचो मुकुन्द-

स्तमाबभाषे श्रवणीयवीर्यः ॥ 1॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं- परीक्षित्। वास्तवमे भगवानकी लीलाकथा ही श्रवण करनेयोग्य है। वे ही प्रेम और मुक्तिके दाता हैं।जब उनके परमप्रेमी भक्त उद्धवजीने इस प्रकार प्रार्थना की,तब यदुवंशविभूषण श्रीभगवान् ने उनके प्रभकी प्रशंसा करके उनसे इस प्रकार कहा- ॥ 1 ॥

श्रीभगवानुवाच

बार्हस्पत्य स वै नात्र, साधुर्वै दुर्जनेरितैः ।

दुरुक्तैर्भिन्नमात्मानं(यँ), यः(स्) समाधातुमीश्वरः ॥ 2॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा- देवगुरु बृहस्पतिके शिष्य उद्धवजी इस संसारमें प्रायः ऐसे संत पुरुष नहीं मिलते, जो दुर्जनको कटुवाणीसे विधे हुए अपने हृदयको संभाल सके ॥ 2 ॥

न तथा तप्यते विद्धः(फ्), पुमान् बाणैः(स्) सुमर्मगैः ।

यथा तुदन्ति मर्मस्था, ह्यसतां(म्) परुषेषवः ॥ 3॥

मनुष्यका हृदय मर्मभेदी बाणोंसे बिधनेपर भी उतनी पीड़ाका अनुभव नहीं करता, जितनी पीडा उसे दुष्टजनों के मर्मान्तक एवं कठोर वाग्बाण पहुँचाते हैं॥ 3 ॥

कथयन्ति महत्पुण्य- मितिहासमिहोद्धव।

तमहं(वँ) वर्णयिष्यामि, निबोध सुसमाहितः ॥ 4॥

उद्धवजी ! इस विषयमें महात्मालोग एक बड़ा पवित्र प्राचीन इतिहास कहा करते हैं; मैं वही तुम्हें सुनाऊँगा, तुम मन लगाकर उसे सुनो ॥ 4 ॥

केनचिद् भिक्षुणा गीतं(म्), परिभूतेन दुर्जनैः ।

स्मरता धृतियुक्तेन, विपाकं(न्) निजकर्मणाम् ॥ 5॥

एक भिक्षुकको दुष्टोंने बहुत सताया था। उस समय भी उसने अपना धैर्य न छोड़ा और उसे अपने पूर्वजन्मके कर्मोंका फल समझकर कुछ अपने मानसिक उद्गार प्रकट किये थे। उन्होंका इस इतिहास वर्णन है ॥ 5॥

अवन्तिषु द्विजः(ख्) कश्चि- दासीदाढ्यतमः(श्) श्रिया ।

वार्तावृत्तिः(ख्) कदर्यस्तु, कामी लुब्धोऽतिकोपनः ॥ 6॥

प्राचीन समयकी बात है, उज्जैनमें एक ब्राह्मण रहता था। उसने खेती-व्यापार आदि करके बहुत-सी धन-सम्पत्ति इकट्ठी कर ली थी। वह बहुत ही कृपण, कामी और लोभी था। क्रोध तो उसे बात-बातमें आ जाया करता था ॥ 6 ॥

ज्ञातयोऽतिथयस्तस्य, वाङ्मात्रेणापि नार्चिताः ।

शून्यावसथ आत्मापि, काले कामैरनर्चितः ॥ 7॥

उसने अपने जाति-बन्धु और अतिथियोंको कभी मीठी बातसे भी प्रसन्न नहीं किया, खिलाने-पिलानेकी तो बात ही क्या है। वह धर्म-कर्मसे रीते घरमें रहता और स्वयं भी अपनी धन सम्पत्तिके द्वारा समयपर अपने शरीरको भी सुखी नहीं करता था ॥ 7 ॥

दुः(श्)शीलस्य कदर्यस्य, द्रुह्यन्ते पुत्रबान्धवाः ।

दारा दुहितरो भृत्या, विषण्णा नाचरन् प्रियम् ॥ 8॥

उसकी कृपणता और बुरे स्वभावके कारण उसके बेटे-बेटी, भाई-बन्धु, नौकर-चाकर और पत्नी आदि सभी दुःखी रहते और मन-ही-मन उसका अनिष्टचिन्तन किया करते थे। कोई भी उसके मनको प्रिय लगनेवाला व्यवहार नहीं करता था ॥ 8 ॥

तस्यैवं(यँ) यक्षवित्तस्य, च्युतस्योभयलोकतः ।

धर्मकामविहीनस्य, चुक्रुधुः(फ्) पं(ञ्)चभागिनः ॥ 9॥

वह लोक-परलोक दोनोंसे ही गिर गया था। बस, यक्षोंके समान धनकी रखवाली करता रहता था। उस धनसे वह न तो धर्म कमाता था और न भोग ही भोगता था। बहुत दिनोंतक इस प्रकार जीवन बितानेसे उसपर पञ्चमहायज्ञके भागी देवता बिगड़ उठे ॥ 9 ॥

तदवध्यानविस्रस्त- पुण्यस्कन्धस्य भूरिद ।

अर्थोऽप्यगच्छन्निधनं(म्), बह्वायासपरिश्रमः ॥ 10॥

उदार उद्धवजी ! पञ्चमहायज्ञके भागियोंके तिरस्कारसे उसके पूर्व पुण्योंका सहारा - जिसके बलसे अबतक धन टिका हुआ था -जाता रहा और जिसे उसने बड़े उद्योग और परिश्रमसे इकट्ठा किया था, वह धन उसकी आँखोंके सामने ही नष्ट भ्रष्ट हो गया ॥ 10 ॥

ज्ञातयो जगृहुः(ख्) किं(ञ्)चित्, किं(ञ्)चिद् दस्यव उद्धव ।

दैवतः(ख्) कालतः(ख्) किं(ञ्)चिद्, ब्रह्मबन्धोर्नृपार्थिवात्॥ 11॥

उस नीच ब्राह्मणका कुछ धन तो उसके कुटुम्बियोंने ही छीन लिया, कुछ चोर चुरा ले गये। कुछ आग लग जाने आदि दैवी कोपसे नष्ट हो गया, कुछ समयके फेरसे मारा गया। कुछ साधारण मनुष्योंने ले लिया और बचा खुचा कर और दण्डके रूपमें शासकोंने हड़प लिया ॥ 11 ॥

स एवं(न्) द्रविणे नष्टे, धर्मकामविवर्जितः ।

उपेक्षितश्च स्वजनैश्- चिन्तामाप दुरत्ययाम् ॥ 12॥

उद्धवजी ! इस प्रकार उसकी सारी सम्पत्ति जाती रही। न तो उसने धर्म ही कमाया और न भोग ही भोगे। इधर उसके सगे-सम्बन्धियोंने भी उसकी ओरसे मुँह मोड़ लिया। अब उसे बड़ी भयानक चिन्ताने घेर लिया ॥ 12 ॥

तस्यैवं(न्) ध्यायतो दीर्घं(न्), नष्टरायस्तपस्विनः ।

खिद्यतो बाष्पकण्ठस्य, निर्वेदः(स्) सुमहानभूत् ॥ 13॥

धनके नाशसे उसके हृदयमें बड़ी जलन हुई। उसका मन खेदसे भर गया। आँसुओंके कारण गला रुँध गया। परन्तु इस तरह चिन्ता करते-करते ही उसके मनमें संसारके प्रति महान् दुःखबुद्धि और उत्कट वैराग्यका उदय हो गया ॥ 13 ॥

स चाहेदमहो कष्टं(वँ), वृथाऽऽत्मा मेऽनुतापितः ।

न धर्माय न कामाय, यस्यार्थायास ईदृशः ॥ 14॥

अब वह ब्राह्मण मन-ही-मन कहने लगा- 'हाय ! हाय !। बड़े खेदकी बात है, मैंने इतने दिनोंतक अपनेको व्यर्थ ही इस प्रकार सताया। जिस धनके लिये मैंने सरतोड़ परिश्रम किया, वह न तो धर्मकर्ममें लगा और न मेरे सुखभोगके ही काम आया ॥ 14 ॥

प्रायेणार्थाः(ख्) कदर्याणां(न्), न सुखाय कदाचन ।

इह चात्मोपतापाय, मृतस्य नरकाय च ॥ 15॥

प्रायः देखा जाता है कि कृपण पुरुषोंको धनसे कभी सुख नहीं मिलता। इस लोकमें तो वे धन कमाने और रक्षाकी चिन्तासे जलते रहते हैं और मरनेपर धर्म न करनेके कारण नरकमें जाते हैं ॥ 15 ॥

यशो यशस्विनां(म्) शुद्धं(म्), श्लाघ्या ये गुणिनां(ङ्) गुणाः ।

लोभः(स्) स्वल्पोऽपि तान् हन्ति, श्वित्रो रूपमिवेप्सितम् ॥ 16॥

जैसे थोड़ा-सा भी कोढ़ सर्वाङ्गसुन्दर स्वरूपको बिगाड़ देता है, वैसे ही तनिक-सा भी लोभ यशस्वियोंके शुद्ध यश और गुणियोंके प्रशंसनीय गुणोंपर पानी फेर देता है ॥ 16 ॥

अर्थस्य साधने सिद्धे, उत्कर्षे रक्षणे व्यये ।

नाशोपभोग आयासस्- त्रासश्चिन्ता भ्रमो नृणाम् ॥ 17॥

धन कमानेमें, कमा लेनेपर उसको बढ़ाने, रखने एवं खर्च करनेमें तथा उसके नाश और उपभोगमें-जहाँ देखो वहीं निरन्तर परिश्रम, भय, चिन्ता और भ्रमका ही सामना करना पड़ता है ॥ 17 ॥

स्तेयं(म्) हिं(म्)सानृतं(न्) दम्भः(ख्), कामः(ख्) क्रोधः(स्) स्मयो मदः ।

भेदो वैरमविश्वासः(स्), सं(म्)स्पर्धा व्यसनानि च ॥ 18॥

एते पं(ञ्)चदशानर्था, ह्यर्थमूला मता नृणाम् ।

तस्मादनर्थमर्थाख्यं(म्), श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत् ॥ 19॥

चोरी, हिंसा, झूठ बोलना, दम्भ, काम, क्रोध, गर्व, अहङ्कार, भेदबुद्धि, वैर, अविश्वास, स्पर्द्धा, लम्पटता, जुआ और शराब - ये पन्द्रह अनर्थ मनुष्योंमें धनके कारण ही माने गये हैं। इसलिये कल्याणकामी पुरुषको चाहिये कि स्वार्थ एवं परमार्थके विरोधी अर्थनामधारी अनर्थको दूरसे ही छोड़ दे ॥ 18-19 ॥

भिद्यन्ते भ्रातरो दाराः(फ्), पितरः(स्) सुहृदस्तथा ।

एकास्निग्धाः(ख्) काकिणिना, सद्यः(स्) सर्वेऽरयः(ख्) कृताः ॥ 20॥

भाई-बन्धु, स्त्री-पुत्र, माता-पिता, सगे-सम्बन्धी जो स्नेहबन्धनसे बंधकर बिलकुल एक हुए रहते हैं—सब-के-सब कौड़ीके कारण इतने फट जाते हैं कि तुरंत एक-दूसरेके शत्रु बन जाते हैं ॥ 20 ॥

अर्थेनाल्पीयसा ह्येते, सं(म्)रब्धा दीप्तमन्यवः ।

त्यजन्त्याशु स्पृधो घ्नन्ति, सहसोत्सृज्य सौहृदम् ॥ 21॥

ये लोग थोड़े-से धनके लिये भी क्षुब्ध और क्रुद्ध हो जाते हैं। बात की बात में सौहार्द सम्बन्ध छोड़ देते हैं, लाग-डॉट रखने लगते हैं और एकाएक प्राण लेने-देनेपर उतारू हो जाते हैं। यहाँतक कि एक-दूसरेका सर्वनाश कर डालते हैं ॥ 21 ॥

लब्ध्वा जन्मामरप्रार्थ्यं(म्), मानुष्यं(न्) तद् द्विजाग्र्यताम्।

तदनादृत्य ये स्वार्थं(ङ्), घ्नन्ति यान्त्यशुभां(ङ्) गतिम् ॥ 22॥

देवताओंके भी प्रार्थनीय मनुष्य जन्मको और उसमें भी श्रेष्ठ ब्राह्मण शरीर प्राप्त करके जो उसका अनादर करते हैं और अपने सच्चे स्वार्थ परमार्थका नाश करते हैं, वे अशुभ गतिको प्राप्त होते है ॥ 22 ॥

स्वर्गापवर्गयोर्द्वारं(म्), प्राप्य लोकमिमं(म्) पुमान् ।

द्रविणे कोऽनुषज्जेत, मर्त्योऽनर्थस्य धामनि ॥ 23॥

यह मनुष्यशरीर मोक्ष और स्वर्गका द्वार है, इसको पाकर भी ऐसा कौन बुद्धिमान् मनुष्य है जो अन धाम धनके चक्करमें फँसा रहे ॥ 23 ॥

देवर्षिपितृभूतानि, ज्ञातीन् बन्धूं(म्)श्च भागिनः ।

असं(वँ)विभज्य चात्मानं(यँ), यक्षवित्तः(फ्) पतत्यधः ॥ 24॥

जो मनुष्य देवता, ऋषि, पितर, प्राणी, जाति-भाई, कुटुम्बी और धनके दूसरे भागीदारोंको उनका भाग देकर सन्तुष्ट नहीं रखता और न स्वयं ही उसका उपभोग करता है, वह यक्षके समान धनकी रखवाली करनेवाला कृपण तो अवश्य हो अधोगतिको प्राप्त होता है ॥ 24 ॥

व्यर्थयार्थेहया वित्तं(म्), प्रमत्तस्य वयो बलम् ।

कुशला येन सिध्यन्ति, जरठः(ख्) किं(न्) नु साधये ॥ 25॥

मैं अपने कर्तव्यसे च्युत हो गया हूँ। मैंने प्रमादमे अपनी आयु, धन और बल-पौरुष खो दिये। विवेकीलोग जिन साधनोंसे मोक्षतक प्राप्त कर लेते हैं, उन्हींको मैंने धन इकट्ठा करनेकी व्यर्थ चेष्टामें खो दिया। अब बुढ़ापे में कौन-सा साधन ॥ 25 ॥

कस्मात् सं(ङ्)क्लिश्यते विद्वान् , व्यर्थयार्थेहयासकृत् ।

कस्यचिन्माययया नूनं(लँ), लोकोऽयं(म्) सुविमोहितः ॥ 26॥

मुझे मालूम नहीं होता कि बड़े-बड़े विद्वान् भी धनको व्यर्थ तृष्णासे निरन्तर क्यों दुःखी रहते हैं ? हो न हो, अवश्य ही यह संसार किसीकी मायासे अत्यन्त मोहित हो रहा है ॥ 26 ॥

किं(न्) धनैर्धनदैर्वा किं(ङ्), कामैर्वा कामदैरुत ।

मृत्युना ग्रस्यमानस्य, कर्मभिर्वोत जन्मदैः ॥ 27॥

यह मनुष्य-शरीर कालके विकराल गाल में पड़ा हुआ है। इसको धनसे, धन देनेवाले देवताओं और लोगों, भोगवासनाओं और उनको पूर्ण करनेवालोंसे तथा पुनः-पुनः जन्म-मृत्युके चक्करमें डालनेवाले सकाम कर्मोंसे लाभ ही क्या है ? ॥ 27 ॥

नूनं(म्) मे भगवां(म्)स्तुष्टः(स्), सर्वदेवमयो हरिः ।

येन नीतो दशामेतां(न्), निर्वेदश्चात्मनः(फ्) प्लवः ॥ 28॥

इसमें सन्देह नहीं कि सर्वदेवस्वरूप भगवान् मुझपर प्रसन्न हैं। तभी तो उन्होंने मुझे इस दशामें पहुँचाया है और मुझे जगत्के प्रति यह दुःख-बुद्धि और वैराग्य दिया है। वस्तुतः वैराग्य ही इस संसार सागरसे पार होनेके लिये नौका के समान है ॥ 28 ॥

सोऽहं(ङ्) कालावशेषेण, शोषयिष्येऽङ्गमात्मनः ।

अप्रमत्तोऽखिलस्वार्थे, यदि स्यात् सिद्ध आत्मनि ॥ 29॥

मैं अब ऐसी अवस्थामें पहुँच गया हूँ। यदि मेरी आयु शेष हो तो मैं आत्मलाभमें ही सन्तुष्ट रहकर अपने परमार्थके सम्बन्धमें सावधान हो जाऊंगा और अब जो समय बच रहा है, उसमें अपने शरीरको तपस्याके द्वारा सुखा डालूँगा ॥ 29 ॥

तत्र मामनुमोदेरन्, देवास्त्रिभुवनेश्वराः ।

मुहूर्तेन ब्रह्मलोकं(ङ्), खट्वां(ङ्)गः(स्) समसाधयत् ॥ 30॥

तीनों लोकोंके स्वामी देवगण मेरे इस सङ्कल्पका अनुमोदन करें। अभी निराश होने की कोई बात नहीं है, क्योंकि राजा खट्वाङ्गने तो दो घड़ीमें ही प्राप्ति कर ली थी ॥ 30 ॥

श्रीभगवानुवाच

इत्यभिप्रेत्य मनसा, ह्यावन्त्यो द्विजसत्तमः ।

उन्मुच्य हृदयग्रन्थीन्, शान्तो भिक्षुरभून्मुनिः ॥ 31॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं-उद्धवजी उस उज्जैननिवासी ब्राह्मणने मन ही मन इस प्रकार निश्चय करके 'मैं' और 'मेरे' पनकी गाँठ खोल दी। इसके बाद वह शान्त होकर मौनी संन्यासी हो गया ॥ 31 ॥

स चचार महीमेतां(म्), सं(यँ)यतात्मेन्द्रियानिलः।

भिक्षार्थं(न्) नगरग्रामा- नसं(ङ्)गोऽलक्षितोऽविशत् ॥ 32॥

अब उसके चित्तमें किसी भी स्थान, वस्तु या व्यक्तिके प्रति आसक्ति न रही। उसने अपने मन, इन्द्रिय और प्राणोंको वशमें कर लिया। वह पृथ्वीपर स्वच्छन्दरूपसे विचरने लगा। वह भिक्षाके लिये नगर और गाँवोंमें जाता अवश्य था, परन्तु इस प्रकार जाता था कि कोई उसे पहचान न पाता था ॥ 32 ॥

तं(वँ) वै प्रवयसं(म्) भिक्षु- मवधूतमसज्जनाः।

दृष्ट्वा पर्यभवन् भद्र, बह्वीभिः(फ्) परिभूतिभिः ॥ 33॥

उद्धवजी ! वह भिक्षुक अवधूत बहुत बूढ़ा हो गया था दुष्ट उसे देखते ही टूट पड़ते और तरह-तरहसे उसका तिरस्कार करके उसे तंग करते ॥ 33 ॥

केचित्त्रिवेणुं(ञ्) जगृहु- रेके पात्रं(ङ्) कमण्डलुम् ।

पीठं(ञ्) चैकेऽक्षसूत्रं(ञ्) च, कन्थां(ञ्) चीराणि केचन ॥ 34॥

कोई उसका दण्ड छीन लेता, तो कोई भिक्षापात्र ही झटक ले जाता। कोई कमण्डलु उठा ले जाता तो कोई आसन, रुद्राक्षमाला और कन्था ही लेकर भाग जाता। कोई तो उसकी लँगोटी और वस्त्रको ही इधर-उधर डाल देते ॥ 34 ॥

प्रदाय च पुनस्तानि, दर्शितान्याददुर्मुनेः ।

अन्नं(ञ्) च भैक्ष्यसम्पन्नं(म्), भुं(ञ्)जानस्य सरित्तटे ॥ 35॥

मूत्रयन्ति च पापिष्ठाः(ष्), ष्ठीवन्त्यस्य च मूर्धनि ।

यतवाचं(वँ) वाचयन्ति, ताडयन्ति न वक्ति चेत् ॥ 36॥

कोई-कोई वे वस्तुएं देकर और कोई दिखला दिखलाकर फिर छीन लेते। जब वह अवधृत मधुकरी माँगकर लाता और बाहर नदी तटपर भोजन करने बैठता, तो पापीलोग कभी उसके सिरपर मूत देते, तो कभी थूक देते। वे लोग उस मौनी अवधूतको तरह-तरहसे बोलनेके लिये विवश करते और जब वह इसपर भी न बोलता तो उसे पीटते ॥ 35-36 ॥

तर्जयन्त्यपरे वाग्भिः(स्), स्तेनोऽयमिति वादिनः ।

बध्नन्ति रज्ज्वा तं(ङ्) केचिद्, बध्यतां(म्) बध्यतामिति ॥ 37॥

कोई उसे चोर कहकर डाँटने-डपटने लगता। कोई कहता 'इसे बाँध लो बाँध लो' और फिर उसे रस्सीसे बांधने लगते ॥ 37 ॥

क्षिपन्त्येकेऽवजानन्त, एष धर्मध्वजः(श्) शठः ।

क्षीणवित्त इमां(वँ) वृत्ति- मग्रहीत् स्वजनोज्झितः॥ 38॥

कोई उसका तिरस्कार करके इस प्रकार ताना कसते कि 'देखो-देखो, अब इस कृपणने धर्मका ढोंग रचा है। धन-सम्पत्ति जाती रही, स्त्री-पुत्रोंने घरसे निकाल दिया; तब इसने भीख माँगनेका रोजगार लिया है ॥ 38 ॥

अहो एष महासारो, धृतिमान् गिरिराडिव ।

मौनेन साधयत्यर्थं(म्), बकवद् दृढनिश्चयः॥ 39॥

ओहो ! | देखो तो सही, यह मोटा-तगड़ा भिखारी धैर्यमें बड़े भारी पर्वतके समान है। यह मौन रहकर अपना काम बनाना चाहता है। सचमुच यह बगुलेसे भी बढ़कर ढोंगी और ढ़नी है ॥ 39 ॥

इत्येके विहसन्त्येन- मेके दुर्वातयन्ति च ।

तं(म्) बबन्धुर्निरुरुधुर्- यथा क्रीडनकं(न्) द्विजम् ॥ 40॥

कोई उस अवधूतकी हँसी उड़ाता, तो कोई उसपर अधोवायु छोड़ता। जैसे लोग तोता-मैना आदि पालतू पक्षियोंको बाँध लेते या पिंजड़ेमें बंद कर लेते हैं, वैसे हो उसे भी वे लोग बाँध देते और परोंमें बंद कर देते ॥ 40 ॥

एवं(म्) स भौतिकं(न्) दुःखं(न्), दैविकं(न्) दैहिकं(ञ्) च यत् ।

भोक्तव्यमात्मनो दिष्टं(म्), प्राप्तं(म्) प्राप्तमबुध्यत ॥ 41॥

किन्तु वह सब कुछ चुपचाप सह लेता। उसे कभी ज्वर आदिके कारण दैहिक पीड़ा सहनी पड़ती, कभी गरमी सर्दी आदिसे देवी कष्ट उठाना पड़ता और कभी दुर्जन लोग अपमान आदिके द्वारा उसे भौतिक पीड़ा पहुँचाते; | परन्तु भिक्षुकके मनमें इससे कोई विकार न होता। वह समझता कि यह सब मेरे पूर्वजन्मके कर्मोंका फल है और इसे मुझे अवश्य भोगना पड़ेगा ॥ 41 ॥

परिभूत इमां(ङ्) गाथा- मगायत नराधमैः ।

पातयद्भिः(स्) स्वधर्मस्थो, धृतिमास्थाय सात्त्विकीम् ॥ 42॥

यद्यपि नीच मनुष्य तरह- तरहके तिरस्कार करके उसे उसके धर्मसे गिरानेकी चेष्टा किया करते, फिर भी वह बड़ी दृढ़तासे अपने धर्ममें स्थिर रहता और सात्विक धैर्यका आश्रय लेकर कभी-कभी ऐसे उद्गार प्रकट किया करता ॥ 42 ॥

द्विज उवाच

नायं(ञ्) जनो मे सुखदुःख हेतुर्-

न देवताऽऽत्मा ग्रहकर्मकालाः ।

मनः(फ्) परं(ङ्) कारणमामनन्ति,

सं(म्)सारचक्रं(म्) परिवर्तयेद् यत् ॥ 43॥

ब्राह्मण कहता - मेरे सुख अथवा दुःखका कारण न ये मनुष्य हैं, न देवता हैं, न शरीर है और न ग्रह, कर्म एवं काल आदि ही हैं। श्रुतियाँ और महात्माजन मनको ही इसका परम कारण बताते हैं और मन ही इस सारे संसार-चक्रको चला रहा है ॥ 43 ॥

मनो गुणान् वै सृजते बलीय-

स्ततश्च कर्माणि विलक्षणानि ।

शुक्लानि कृष्णान्यथ लोहितानि,

तेभ्यः(स्) सवर्णाः(स्) सृतयो भवन्ति ॥ 44॥

सचमुच यह मन बहुत बलवान् है । इसीने विषयों, उनके कारण गुणों और उनसे सम्बन्ध रखनेवाली वृत्तियोंकी सृष्टि की है। उन वृत्तियों के अनुसार ही सात्विक, राजस और तामस अनेकों प्रकारके कर्म होते हैं और कर्मोंक अनुसार ही जीवको विविध गतियाँ होती हैं ॥ 44 ॥

अनीह आत्मा मनसा समीहता,

हिरण्मयो मत्सख उद्विचष्टे ।

मनः(स्) स्वलिं(ङ्)गं(म्) परिगृह्य कामान्,

जुषन् निबद्धो गुणसं(ङ्)गतोऽसौ ॥ 45॥

मन ही समस्त चेष्टाएँ करता है। उसके साथ रहनेपर भी आत्मा निष्क्रिय ही है। वह ज्ञानशक्तिप्रधान है, मुझ जीवा सनातनखा है और अपने अलुम ज्ञानसे सब कुछ देखता रहता है। मनके द्वारा ही उसकी अभिव्यक्ति होती है। जब वह मनको स्वीकार करके उसके द्वारा विषयोंका भोक्ता बन बैठता है, तब कमकि साथ आसक्ति होनेके कारण वह उनसे बँध जाता है ॥ 45 ॥

दानं(म्) स्वधर्मो नियमो यमश्च,

श्रुतं(ञ्) च कर्माणि च सद्व्रतानि ।

सर्वे मनोनिग्रहलक्षणान्ताः(फ्),

परो हि योगो मनसः(स्) समाधिः ॥ 46॥

दान, अपने धर्मका पालन, नियम, यम, वेदाध्ययन, सत्कर्म और ब्रह्मचर्यादि श्रेष्ठ व्रत- इन सबका अन्तिम फल यही है कि मन एकाग्र हो जाय, भगवान्‌में लग जाय। मनका समाहित हो जाना ही परम योग है ॥ 46 ॥

समाहितं(यँ) यस्य मनः(फ्) प्रशान्तं(न्),

दानादिभिः(ख्) किं(वँ) वद तस्य कृत्यम् ।

असं(यँ)यतं(यँ) यस्य मनो विनश्यद्,

दानादिभिश्चेदपरं(ङ्) किमेभिः ॥ 47॥

जिसका मन शान्त और समाहित है, उसे दान आदि समस्त सत्कर्मों का फल प्राप्त हो चुका है। अब उनसे कुछ लेना बाकी नहीं है और जिसका मन चञ्चल है अथवा 1 आलस्यसे अभिभूत हो रहा है, उसको इन दानादि शुभकर्मोंसे अबतक कोई लाभ नहीं हुआ ॥ 47 ॥

मनोवशेऽन्ये ह्यभवन् स्म देवा,

मनश्च नान्यस्य वशं(म्) समेति ।

भीष्मो हि देवः(स्) सहसः(स्) सहीयान्

युञ्ज्याद् वशे तं(म्) स हि देवदेवः ॥ 48॥

सभी इन्द्रियाँ मनके वशमें हैं। मन किसी भी इन्द्रियके वशमें नहीं है। यह मन बलवान्‌से भी बलवान्, अत्यन्त भयङ्कर | देव है। जो इसको अपने वशमें कर लेता है, वही देव देव-इन्द्रियोंका विजेता है ॥ 48 ॥

तं(न्) दुर्जयं(म्) शत्रुमसह्यवेग-

मरुन्तुदं(न्) तन्न विजित्य केचित् ।

कुर्वन्त्यसद्विग्रहमत्र मर्त्यैर्-

मित्राण्युदासीनरिपून् विमूढाः ॥ 49॥

सचमुच मन बहुत बड़ा शत्रु है। इसका आक्रमण असह्य है। यह बाहरी शरीरको ही नहीं, हृदयादि मर्मस्थानों को भी बेचता रहता है। इसे जीतना बहुत ही कठिन है। मनुष्योंको चाहिये कि सबसे पहले इसी शत्रुपर विजय प्राप्त करे; परन्तु होता है। | यह कि मूर्ख लोग इसे तो जीतनेका प्रयत्न करते नहीं, दूसरे मनुष्योंसे झूठमूठ झगड़ा बखेड़ा करते रहते हैं और इस जगत् के लोगोंको ही मित्र-शत्रु-उदासीन बना लेते हैं ॥ 49 ॥

देहं(म्) मनोमात्रमिमं(ङ्) गृहीत्वा

ममाहमित्यन्धधियो मनुष्याः ।

एषोऽहमन्योऽयमिति भ्रमेण

दुरन्तपारे तमसि भ्रमन्ति ॥ 50॥

साधारणतः मनुष्योंकी बुद्धि अंधी हो रही है। तभी तो वे इस मनः कल्पित शरीरको 'मैं' और 'मेरा' मान बैठते हैं और फिर इस भ्रमके फंदे में फँस जाते है कि 'यह मैं हूँ और यह दूसरा ।' इसका परिणाम यह होता है कि वे इस अनन्त अज्ञानान्धकारमें ही भटकते रहते हैं ॥ 50 ॥

जनस्तु हेतुः(स्) सुखदुःखयोश्चेत्,

किमात्मनश्चात्र ह भौमयोस्तत् ।

जिह्वां(ङ्) क्वचित् सं(न्)दशति स्वदद्भिस्-

तद्वेदनायां(ङ्) कतमाय कुप्येत् ॥ 51॥

यदि मान लें कि मनुष्य ही सुख-दुःखका कारण है, तो भी उनसे आत्माका क्या सम्बन्ध ? क्योंकि सुख-दुःख पहुँचानेवाला भी मिट्टीका शरीर है और भोगनेवाला भी। कभी भोजन आदिके समय यदि अपने दाँतोंसे ही अपनी जीभ कट जाय और उससे पीड़ा होने लगे, तो मनुष्य किसपर क्रोध करेगा ? ॥ 51 ॥

दुःखस्य हेतुर्यदि देवतास्तु

किमात्मनस्तत्र विकारयोस्तत् ।

यदं(ङ्)गमं(ङ्)गेन निहन्यते क्वचित्

क्रुध्येत कस्मै पुरुषः(स्) स्वदेहे ॥ 52॥

यदि ऐसा मान लें कि | देवता ही दुःखके कारण हैं, तो भी इस दुःखसे आत्माकी क्या हानि ? क्योंकि यदि दुःखके कारण देवता है, तो इन्द्रियाभिमानी देवताओंके रूपमें उनके भोक्ता भी तो ये ही है और देवता सभी शरीरोंमें एक है; जो देवता एक | शरीरमें है; वे ही दूसरेमें भी हैं ऐसी दशामें यदि अपने 1 ही शरीरके किसी एक अङ्गसे दूसरे अङ्गको चोट लग जाय तो भला किसपर क्रोध किया जायगा ? ॥ 52 ॥

आत्मा यदि स्यात्सुखदुःखहेतुः(ख्),

किमन्यतस्तत्र निजस्वभावः ।

न ह्यात्मनोऽन्यद् यदि तन्मृषा स्यात्

क्रुध्येत कस्मान्न सुखं(न्) न दुःखम् ॥ 53॥

यदि ऐसा मानें कि आत्मा ही सुख-दुःखका कारण है तो वह तो अपना आप ही है, कोई दूसरा नहीं क्योंकि आत्मासे भिन्न कुछ और है ही नहीं यदि दूसरा कुछ प्रतीत होता है, तो वह मिथ्या है। इसलिये न सुख है, न दुःख; फिर क्रोध कैसा ? क्रोधका निमित्त ही क्या ? ॥ 53 ॥

ग्रहा निमित्तं(म्) सुखदुःखयोश्चेत्,

किमात्मनोऽजस्य जनस्य ते वै ।

ग्रहैर्ग्रहस्यैव वदन्ति पीडां(ङ्),

क्रुध्येत कस्मै पुरुषस्ततोऽन्यः ॥ 54॥

यदि ग्रहको सुख दुःखका निमित्त मानें, तो उनसे भी अजन्मा आत्माकी क्या हानि ? उनका प्रभाव भी जन्म-मृत्युशील शरीरपर ही होता है। ग्रहोंकी पीड़ा तो उनका प्रभाव ग्रहण करनेवाले शरीरको ही होती है और आत्मा उन ग्रहों और शरीरोंसे सर्वथा परे है। तब भला वह किसपर क्रोध करे ? ॥ 54 ॥

कर्मास्तु हेतुः(स्) सुखदुःखयोश्चेत्,

किमात्मनस्तद्धि जडाजडत्वे ।

देहस्त्वचित् पुरुषोऽयं(म्) सुपर्णः(ख्),

क्रुध्येत कस्मै न हि कर्ममूलम् ॥ 55॥

यदि कमको ही सुख-दुःखका कारण मानें, तो उनसे आत्माका क्या प्रयोजन? क्योंकि वे तो एक पदार्थके जड़ और चेतन उभयरूप होनेपर ही हो सकते हैं। (जो वस्तु विकारयुक्त और अपना हिताहित जाननेवाली होती है, उसीसे कर्म हो सकते है; अतः वह विकारयुक्त होनेके कारण जड होनी चाहिये और हिताहितका ज्ञान रखनेके कारण चेतन) किन्तु देह तो अचेतन है और उसमें पक्षीरूपसे रहनेवाला आत्मा सर्वथा निर्विकार और साक्षीमात्र है। इस प्रकार कर्मोंका तो कोई आधार ही सिद्ध नहीं होता। फिर क्रोध किसपर करें ? ॥ 55 ॥

कालस्तु हेतुः(स्) सुखदुःखयोश्चेत्,

किमात्मनस्तत्र तदात्मकोऽसौ ।

नाग्नेर्हि तापो न हिमस्य तत् स्यात्,

क्रुध्येत कस्मै न परस्य द्वन्द्वम् ॥ 56॥

यदि ऐसा मानें कि काल ही सुख-दुःखका कारण है, तो आत्मापर उसका क्या प्रभाव ? क्योंकि काल तो आत्मस्वरूप ही है। जैसे आग आगको नहीं जला सकती और बर्फ बर्फको नहीं गला सकता, वैसे ही आत्मस्वरूप काल अपने आत्माको ही सुख-दुःख नहीं पहुँचा सकता। फिर किसपर क्रोध किया जाय ? आत्मा शीत-उष्ण, सुख दुःख आदि द्वन्द्वोंसे सर्वथा अतीत है ॥ 56 ॥

न केनचित् क्वापि कथं(ञ्)चनास्य,

द्वन्द्वोपरागः(फ्) परतः(फ्) परस्य ।

यथाहमः(स्) सं(म)सृतिरूपिणः(स्) स्या-

देवं(म्) प्रबुद्धो न बिभेति भूतैः ॥ 57॥

आत्मा प्रकृतिके स्वरूप, धर्म, कार्य, लेश, सम्बन्ध और गन्धसे भी रहित है। उसे कभी कहीं किसीके द्वारा किसी भी प्रकारसे द्वन्द्वका स्पर्श ही नहीं होता। वह तो जन्म-मृत्युके चक्रमें भटकनेवाले अहङ्कारको ही होता है। जो इस बातको जान लेता है, वह फिर किसी भी भयके निमित्तसे भयभीत नहीं होता ॥ 57 ॥

एतां(म्) स आस्थाय परात्मनिष्ठा-

मध्यासितां(म्) पूर्वतमैर्महर्षिभिः ।

अहं(न्) तरिष्यामि दुरन्तपारं(न्),

तमो मुकुन्दाङ्घ्रिनिषेवयैव ॥ 58॥

बड़े-बड़े प्राचीन ऋषि-मुनियोंने इस परमात्मनिष्ठाका आश्रय ग्रहण किया है। मैं भी इसीका आश्रय ग्रहण करूंगा और मुक्ति तथा प्रेमके दाता भगवान्के चरणकमलोंकी सेवाके द्वारा ही इस दुरन्त अज्ञानसागरको अनायास ही पार कर लूँगा ॥ 58 ॥

श्रीभगवानुवाच

निर्विद्य नष्टद्रविणो गतक्लमः(फ्),

प्रव्रज्य गां(म्) पर्यटमान इत्थम् ।

निराकृतोऽसद्भिरपि स्वधर्मा-

दकम्पितोऽमुं(म्) मुनिराह गाथाम् ॥ 59॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं-उद्धवजी उस ब्राह्मणका धन क्या नष्ट हुआ, उसका सारा क्लेश ही दूर हो गया। अब वह संसारसे विरक्त हो गया था और संन्यास लेकर पृथ्वीमें स्वच्छन्द विचर रहा था। यद्यपि दुष्टोंने उसे बहुत सताया, फिर भी वह अपने धर्ममे अटल रहा, तनिक भी विचलित न हुआ। उस समय वह मौनी अवधूत मन-ही-मन इस प्रकारका गीत गाया करता था ॥ 59 ॥

सुखदुःखप्रदो नान्यः(फ्), पुरुषस्यात्मविभ्रमः ।

मित्रोदासीनरिपवः(स्), सं(म्)सारस्तमसः(ख्) कृतः ॥ 60॥

उद्धवजी ! इस संसारमें मनुष्यको कोई दूसरा सुख या दुःख नहीं देता, यह तो उसके चित्तका भ्रममात्र है। यह सारा संसार और इसके भीतर मित्र, उदासीन और शत्रुके भेद अज्ञानकल्पित हैं ॥ 60 ॥

तस्मात् सर्वात्मना तात, निगृहाण मनो धिया ।

मय्यावेशितया युक्त, एतावान् योगसं(ङ्)ग्रहः ॥ 61॥

इसलिये प्यारे उद्धव ! अपनी वृत्तियोंको मुझमें तन्मय कर दो और इस प्रकार अपनी सारी शक्ति लगाकर मनको वशमें कर लो और फिर मुझमें ही नित्ययुक्त होकर स्थित हो जाओ। बस, सारे योगसाधनका इतना ही सार-संग्रह है ॥ 61 ॥

य एतां(म्) भिक्षुणा गीतां(म्), ब्रह्मनिष्ठां(म्) समाहितः ।

धारयञ्छ्रावयञ्छृण्वन्, द्वन्द्वैर्नैवाभिभूयते ॥ 62॥

यह भिक्षुकका गीत क्या है, मूर्तिमान् ब्रह्मज्ञान-निष्ठा ही है। जो पुरुष एकाग्रचित्तसे इसे सुनता, सुनाता और धारण करता है वह कभी सुख दुःखादि द्वन्द्वोंके वशमें नहीं होता। उनके बीचमें भी वह | सिंहके समान दहाड़ता रहता है ॥ 62 ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहं(म्)स्यां(म्)

सं(म्)हितायामेकादशस्कन्धे त्रयोविं(म्)शोऽध्यायः॥

YouTube Full video link

https://youtu.be/oCXWqHvPvIQ